हिन्दी ज्युनियर (कक्षा ५ से ७)

विशेष सूचना :

१. प्रत्येक विद्यार्थी को ३ मिनट दिये जायेंगे।

२. कृपया निर्धारित विषय तक सीमित रहिए।

३. निर्णायकों का मुल्यांकन

(अ) विषय : ३० अंक (ब) स्पष्टता : १० अंक (क) प्रभाव : १० अंक

१. नरेन्द्रनाथ का प्रथम आगमन और परिचय

अपने चिह्नित भक्तों का आगमन काल समीप जानकर दिव्यभावारूढ़ श्रीरामकृष्णदेव उस समय उनकी किस प्रकार उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे थे, यह स्वामी विवेकानन्द के उनके पास प्रथम आगमन की बात पर ध्यान देने से अच्छी तरह समझ में आता है। कलकत्ते के सिमला नामक मुहल्ले के निवासी श्री सुरेंद्रनाथ मित्र दक्षिणेश्वर आकर श्रीरामकृष्णदेव का पुण्यदर्शन प्राप्त कर कृतार्थ हुए थे। प्रथम दर्शन के दिन से ही श्री सुरेन्द्रनाथ श्रीरामकृष्णदेव के प्रति विशेष रुप से आकृष्ट हुए थे और कुछ ही दिनों में उनके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध से प्रसादित होकर उन्हें एक दिन अपने घर ले गये थे। वहाँ उन्होंने आनन्दोत्सव का अनुष्ठान किया था। किसी सुकण्ठ गायक के न मिल पाने के कारण सुरेन्द्रनाथ ने उस दिन अपने पड़ोसी श्रीयुत विश्वनाथ दत्त के पुत्र नरेन्द्रनाथ को ही श्रीरामकृष्णदेव के सम्मुख भजन गाने के लिए बुलाया था। श्रीरामकृष्णदेव तथा उनके प्रधान लीलासहचर स्वामी विवेकानन्द – दोनों का परस्पर दर्शन इसी प्रकार संघटित हुआ था। वह समय सन १८८१ ई. का. नवम्बर मास होगा।

नरेन्द्रनाथ को देखते ही श्रीरामकृष्णदेव उनके प्रति विशेष रूप से आकृष्ट हुए थे। उन्होंने उस सुगायक युवक का परिचय जहाँ तक सम्भव हुआ, जान लिया था। फिर भजन समाप्त होने पर स्वयं नरेन्द्र के पास आकर उससे श्रीरामकृष्णदेव ने दो–एक बातें कीं और शीघ्र ही एक दिन दक्षिणेश्वर आने के लिए उसे कहा।

दक्षिणेश्वर की प्रथम भेंट में नरेन्द्रनाथ को देखकर उस दिन श्रीरामकृष्णदेव के मन में जो भाव उठा था, उसे संक्षेप में उन्होंने इस प्रकार बताया था–

"पश्चिम (गंगा) की ओर के दरवाजे से नरेन्द्र प्रथम दिन इस कमरे में प्रविष्ठ हुआ था। मैंने देखा, अपने शरीर का उसे कुछ ध्यान ही नहीं है। सिर के केश और वेश–भूषा पर भी ध्यान नहीं है, बाहर के किसी पदार्थ का साधारण मनुष्यों की तरह कुछ ख़याल ही नहीं है, सभी कुछ निराला है। आँखें देखकर ऐसा लगा मानो उसके मन को किसी ने जबरदस्ती अन्तर्मुखी बना दिया है। प्रतीत हुआ कि विषयी लोगों के निवासस्थल कलकत्ते में क्या इतना बड़ा सत्त्वगुणी आधार रहना भी सम्भव है?"

"फर्श पर चटाई बिछी हुई थी। मैंने उसे उसपर बैठने के लिए कहा। जहाँ इस समय गंगाजल का घड़ा है, उसी के पास वह बैठ गया। उसके साथ उस दिन उसके दो–चार मित्र भी आये थे। देखा, उनका स्वभाव सम्पूर्ण विपरीत है–साधारण विषयी मनुष्यों की तरह; भोग की ओर ही दृष्टी है।"

"गाना गाने की बात पूछने पर मालूम हुआ, उस समय उसने दो–चार बंगला गीत सीखे थे। उन्हीं को गाने के लिए कहा। उस पर उसने एक गीत गाया। इतनी तन्मयता के साथ सोलह आने मन से प्राण देकर गाया मानो प्रतीत होता था कि ध्यानस्थ होकर गा रहा है। गाना सुनकर मैं अपने को सम्हाल न सका, भावाविष्ट हो गया।"

"उसके चले जाने पर उसे पुन: देखने के लिए मेरा मन चौबीसों घण्टे इतना व्याकुल रहता था कि मैं कह नहीं सकता। कभी–कभी मन में ऐसी वेदना होती थी मानो अंगोछा निचोड़ने की तरह कलेजे को कोई बहुत जोर से निचोड़ रहा है। उस समय मैं अपने को सम्हाल नहीं सकता था, दौड़कर बगीचे के उत्तर की ओर के झाऊतला में, जहाँ कोई नहीं जाता था, जाकर 'अरे, तू चला आ, तुझे बिना देखे मैं नहीं रह सकता' इस तरह चिल्लाकर रोता था। बहुत देर तक इस प्रकार रोने पर मन कुछ शांत

होता था। लगातार छः मास तक वैसा ही रोता रहा। दूसरे लड़कों में से भी किसी किसी के लिए मन में ऐसी व्याकुलता होती थी, किन्तु नरेन्द्र के लिए जैसी व्याकुलता होती थी, उसकी तुलना में वह कुछ भी नहीं थी।"

श्रीयुत नरेन्द्रनाथ ने एक दिन बातचीत के सिलसिले में उस दिन का प्रसंग उठाकर कहा था–

"गाना तो मैंने गाया। उसके बाद ही श्रीरामकृष्णदेव एकाएक उठकर मेरा हाथ पकड़कर अपने कमरे के उत्तर की ओर बरामदे में मुझे खींच ले गये। उस समय शीतकाल था। उत्तरी हवा रोकने के लिए बरामदे के खम्भों के बीच–बीच टट्टे घिरे हुए थे। इसलिए वहाँ भीतर जाकर कमरे का दरवाजा बन्द कर देने से कमरे के भीतर या बाहर किसी व्यक्ति को देखा नहीं जा सकता था। बरामदे में प्रविष्ठ होकर श्रीरामकृष्णदेव द्वारा दरवाजा बन्द कर देने पर मैंने सोचा – सम्भवतः एकान्त में मुझे उपदेश देंगे। परंन्तु उन्होंने जो कुछ कहा और किया, वह कल्पनातीत था। एकाएक उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया, उनके नेत्रों से आनन्दाश्रु की धारा बहने लगी और पुर्वपरिचित की तरह मुझे परमस्नेह से सम्बोधित करते हुए कहने लगे, "तू इतने दिनों के बाद आया? मैं तेरे लिए किस प्रकार प्रतीक्षा कर रहा था, तू सोच भी नहीं सकता। विषयी मनुष्यों के व्यर्थ प्रसंग सुनते–सुनते मेरे कान जले जा रहे हैं, मन की बात किसी से न कह सकने के कारण मेरा पेट फूलता जा रहा है!"– आदि आदि कितनी ही बातें कहने लगे और रोने लगे। दूसरे ही क्षण मेरे सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गये और देवता की तरह मेरे प्रति सम्मान दिखाकर कहने लगे, "मैं जानता हूँ प्रभु, आप वही पुरातन ऋषि – नररूपी नारायण हो, जीवों की दुर्गति दूर करने के लिए आप पुनः संसार में अवतीर्ण हुए हैं!" इत्यादि।"

"मैं तो उनके इस प्रकार के आचरण से एकदम अवाक् और स्तम्भित हो गया। मन में सोचने लगा, 'मैं किसे देखने आया हूँ, ये तो एकदम पागल हैं – मैं तो विश्वनाथ दत्त का पुत्र हूँ, मुझसे ऐसी बातचीत!' जो हो, मैं चुप रह गया। अपूर्व पागल जो मन में आया, कहते चले गये

थोड़ी देर बाद मुझे वहीं ठहरने के लिए कहकर वे कमरे में चले गये और मक्खन, मिश्री तथा कुछ मिठाई लाकर अपने हाथ से मुझे खिलाने लगे। मैं कहने लगा, "मुझे मिठाइयाँ दे दीजिये, साथियों के साथ खाऊँगा" परन्तु उन्होंनें कुछ नहीं माना और कहा – "वे लोग भी खायेंगे, तुम तो खा लो।" इतना कहकर उन्होंने मुझे सब कुछ खिलाकर ही छोड़ा। इसके बाद मेरा हाथ पकड़कर उन्होंने कहा, "बोल, तू जल्दी ही एक दिन मेरे पास अकेला आयेगा।" उनके उस आग्रहपूर्ण अनुरोध को टाल न सकने के कारण लाचार होकर 'आऊँगा' कह दिया और उनके साथ कमरे में आकर अपने साथियों के साथ बैठ गया।"

"बैठकर मैं उनकी ओर ताकने लगा और सोचने लगा। देखा, उनकी चालढाल, बातचीत और दूसरों से व्यवहार में पागलपन का कोई लक्षण नहीं है। उनकी सत्कथा और भावसमाधि देखकर मुझे ऐसा लगा कि सचमुच ही ये ईश्वरार्थ सर्वत्यागी हैं और जो कहते हैं, उसका अनुष्ठान भी स्वयं करते हैं। 'तुम लोगों को जैसे देख रहा हूँ, तुम लोगों से जैसे बातचीत कर रहा हूँ, वैसे ही ईश्वर को भी देखा जा सकता है और उनसे बात की जा सकती है, परन्तु वैसा चाहता कौन है? लोग स्त्री–पुत्र के शोक में घड़ों आँसू बहाते हैं। विषय और धन के लिए तरसते रहते हैं, परन्तु ईश्वर का दर्शन नहीं हुआ, कहकर कौन रोता है? उन्हें मैं नहीं पा सका ऐसा कहकर यदि कोई व्याकुल होकर उन्हें पुकारता है, तो वे अवश्य ही दर्शन देते हैं'। उनके श्रीमुख से ऐसी बातें सुनकर मेरे मन में आया कि अन्य धर्म–प्रचारकों की तरह वे कल्पना या रूपक का सहारा लेकर व्याख्यान नहीं देते, यथार्थ में ही सब कुछ छोड़कर सम्पूर्ण मन से ईश्वर को पुकारकर जो कुछ प्रत्यक्ष किया है, वही कह रहे हैं।"

(संदर्भ ग्रंथ – श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग)

* * *

हिन्दी ज्युनियर (कक्षा ५ से ७)

विशेष सूचना :

१. प्रत्येक विद्यार्थी को ३ मिनट दिये जायेंगे।

२. कृपया निर्धारित विषय तक सीमित रहिए।

३. निर्णायकों का मुल्यांकन

(अ) विषय : ३० अंक (ब) स्पष्टता : १० अंक (क) प्रभाव : १० अंक

२. परिव्राजक दिनों में

भारत की अपनी यात्रा के दौरान स्वामी विवेकानंद सभी प्रकार के लोगों से मिले। यात्रा का हर पल उन्होंने खुले मन से देखा–समझा। हिममंडित हिमालय के निर्जन परन्तु काव्यात्मक प्रदेश से कन्याकुमारी तक, सम्पुर्ण भारत की यात्रा के उनके वे अनेक वर्ष विविध घटनाओं से पूर्ण थे। अपनी यात्रा के दिनों का वर्णन करते हुए स्वामीजी ने खेतड़ी में घटी एक घटना के विषय में बताया :

अपनी यात्रा के दौरान मैं एक ऐसे स्थान पर पहुँचा जहाँ लोगों की भीड़ की भीड़ मुझसे मिलने आई और मेरे आदेशों की माँग करने लगी। यद्यपि यह नितान्त अविश्वसनीय लगता है पर मुझे पलभर का भी आराम दिये बिना तीन दिन और तीन रात लोग आते रहे तथा मुझसे बातें करवाते रहे। उन्होंने मुझसे यह भी नहीं पूछा कि मैंने भोजन किया है या नहीं। तीसरी रात्रि, जब सब लोग चले गये, तब निम्नजाति का एक गरीब आदमी मेरे पास आकर कहने लगा, "स्वामीजी, इन तीन दिनों में आपने कुछ भी नहीं खाया है, यह देखकर मुझे अत्यन्त दु:ख हो रहा है। आप बहुत थके और भूखे होंगे। वास्तव में मैंने देखा है कि आपने एक गिलास पानी भी नहीं पिया है।" मुझे लगा कि इस निम्नजाति के व्यक्ति के रूप में स्वयं भगवान मेरी परीक्षा लेने आये हैं। मैंने उससे पूछा, "क्या तुम मुझे कुछ खाने को दे सकते हो?" उसने उत्तर दिया, "स्वामीजी! आपको भोजन देने के लिये मेरा हृदय व्याकुल हो रहा है। परन्तु मेरे हाथ की पकी रोटियाँ आप कैसे खा सकते हैं? यदि

आपकी अनुमति हो तो आपके लिये आटा, दाल तथा अन्य सामग्री लाने में मुझे आनन्द होगा और आप स्वयं अपना भोजन पका लें।" उन दिनों, संन्यास के नियमों के अनुसार मैं अग्नि नहीं छू सकता था। मैंने उससे कहा, "अच्छा हो कि तुम अपनी बनाई रोटियाँ मुझे दे दो–मैं खुशी से उन्हें ग्रहण करुँगा।" यह सुनकर वह आदमी भय से सहम गया। वह खेतड़ी के महाराजा की प्रजा था और उसे डर था कि यदि महाराज को यह पता चला कि एक चमार ने एक संन्यासी को रोटियाँ दी है तो उसको कड़ी सज़ा दी जायेगी। और हो सकता है कि उसे राज्य के बाहर ही निकाल दिया जाये। लेकिन मैंने उससे कहा कि उसे डरने की जरुरत नहीं है। महाराज उसको सज़ा नहीं देंगे। उसे मेरी बात पर विश्वास नहीं हुआ पर आगामी परिणाम से भयभीत होने पर भी, अपने हृदय की दयालुता के कारण वह मेरे लिये पका हुआ भोजन ले आया। उस समय मेरे मन में आया कि देवताओं के राजा इन्द्र भी यदि स्वयं मेरे लिये स्वर्णपात्र में अमृत लाये होते तो वह भी इससे अधिक स्वादिष्ट नहीं होता। प्रेम एवम् कृतज्ञता के आँसू मेरी आँखों से बहने लगे। और मैंने सोचा, 'ऐसे विशाल हृदय वाले हज़ारों जन छोटी–मोटी झोपड़ियों में रहते हैं, और हम उन्हें नीची जाति का और अछूत कहकर उनसे घृणा करते हैं।' जब महाराजा से मेरा अच्छा परिचय हो गया, मैंने उन्हें इस व्यक्ति के महान कार्य के विषय में बताया। कुछ दिनों में ही महाराजा ने उस व्यक्ति को बुलवाया। भयभीत, व्याकुल, काँपता, थर्राता हुआ वह आदमी, यह सोचता हुआ वहाँ आया कि उसे कुछ कठोर दण्ड दिया जायेगा। परन्तु महाराजा ने उसकी प्रशंसा की और उसकी दरिद्रता दूर कर दी।

एक दिन स्वामीजी के मन में विचार आया कि जगह–जगह घूमकर, घर–घर भिक्षा माँगना तो उनका लक्ष्य नहीं था – जिसकी प्राप्ति के लिये उन्होंने अपने घर का त्याग किया था। उस समय अपने एक गुरुभाई को लिखे एक पत्र में उन्होंने निराशा के साथ लिखा था, "बिना शर्म और लेशमात्र हिचकिचाहट बिना, एक कौए की भाँति, मैं घर–घर जाकर खा रहा हूँ।" इसी अवसर पर उन्होंने सोचा, 'मैं अब भिक्षा नहीं माँगूँगा। मुझे खिलाने में बेचारे गरीब को क्या लाभ है? यदि वह मुठ्ठीभर चावल बचा सकता है तो

उससे अपने बच्चों का पेट भर सकता है। वैसे भी यदि मैं ईश्वर की प्राप्ति नहीं कर सकता हूँ तो इस देह की रक्षा करने से क्या लाभ है?' जैसा कि महान पुरुषों के साथ कभी–कभी होता है, स्वामीजी घोर आध्यात्मिक निराशा एवम् वैराग्य की भावना से अभिभूत हो गये। निराशा की उस घड़ी में उन्होंने निश्चय किया कि वे जंगल में जाकर प्राचीन ऋषियों के समान भूख एवम् थकान से क्षीण शरीर को त्याग देंगे। अधिक सोच–विचार किये बिना, वे मीलों तक फैले एक विस्तृत, घने जंगल में चले गये और सारा दिन बिना कुछ खाये पिये चलते रहे। शाम हो चली। थकान से निढ़ाल वे एक पेड़ के नीचे बैठ गये तथा भगवान के चरणों में अपना चित्त स्थिर कर शून्य दृष्टि से सुदूर तक देखते रहे।

कुछ समय पश्चात उन्होंने एक शेर को आते हुए देखा – वह उनके पास, और पास आता गया। फिर वह उनसे थोड़ी दूरी पर बैठ गया। स्वामीजी ने सोचा, 'अहा! यह ठीक है, हम दोनों ही भूखे हैं। यह शरीर ब्रह्मप्राप्ति का साधन नहीं बन पाया है। इस कारण इसके द्वारा संसार का सम्भवत: कुछ भी हित नहीं होने वाला है। इसलिये यह अच्छा और वांछनीय ही है कि कम–से–कम यह शरीर इस भूखे पशु के काम ही आ जाये।' वे शान्त और निश्चल उसी स्थान पर इसी प्रतीक्षा में लेटे रहे कि किसी भी क्षण शेर उनपर आक्रमण कर देगा। परन्तु किसी कारण शेर अपनेआप वहाँ से चला गया। स्वामीजी ने सोचा कि वह वापस आ सकता है और प्रतीक्षा करते रहे परन्तु शेर वापस नहीं आया। वह रात उन्होंने जंगल में ही, अपनी अन्तरात्मा के साथ मनन–चिन्तन में बिता दी। सूर्योदय होने पर उन्होंने अपने में एक प्रबल शक्ति का अनुभव किया।

एक दूसरे अवसर पर भी थकान से उन्हें चक्कर आने लगे और वे आगे नहीं चल पाये। सूर्य का ताप असहनीय था। किसी प्रकार पास ही के एक वृक्ष के पास पहुँचकर वे उसके नीचे बैठ गये। उनके हाथ–पैरों में असह्य थकान हो रही थी। उस समय, अँधकार में प्रकाश की भाँति उनके मन में यह विचार आया – 'क्या यह सत्य नहीं है कि आत्मा में ही समस्त शक्ति निहित होती है? तब शरीर तथा इन्द्रियाँ आत्मा को कैसे दबाव में

रख सकते हैं? मैं निर्बल कैसे हो सकता हूँ?' इस विचारधारा के साथ ही उनके समस्त शरीर में ऊर्जा प्रवाहित होने लगी। उनका मानस आलोक से परिप्लावित हो गया तथा उनकी इन्द्रियाँ पुन: स्फूर्ति से भर गई। वे उठे और अपनी यात्रा पर चल पड़े, इस दृढ़ निश्चय के साथ कि वे कभी निर्बलता को अपने ऊपर हावी नहीं होने देंगे।

अपनी यात्रा के दिनों में अनेक बार स्वामीजी की ऐसी दशा हो जाती थी परन्तु वे अपने ऊर्ध्वगामी स्वभाव पर दृढ़ता से जोर देते थे और उनके शरीर में पुन: शक्ति का संचार होने लगता था।

हिमालय में यात्रा करते हुये एक बार उन्हें एक वृद्ध संन्यासी मिले जो भयंकर शीत से पीड़ित थे। वे उन संन्यासियों में से थे जो सिंह की भाँति, सिर पर बिना कोई आवरण लिये घूमते है। पर उस समय वे अस्वस्थ थे और उन्हें बहुत ठंड लग रही थी। स्वामीजी उनके पास से गुज़र रहे थे, उनकी दशा देखकर तुरन्त अपना एकमात्र कम्बल उतारकर उन संन्यासी को दिया। संन्यासी ने उनकी ओर देखा, तथा कृतज्ञताभरी मुस्कराहट के साथ कहा, "नारायण तुम पर कृपा करें।"

बहुधा स्वामीजी को, जो अपने पास श्रीरामकृष्ण के चित्र और गीता के अतिरिक्त कुछ नहीं रखते थे, एकान्त में अनेक विपदाओं, अभावों तथा कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। उनको अनेक दु:खदायी अनुभव हुये जब लोगों ने उन्हें आश्रय तथा भोजन देने से मना कर दिया। इस दौरान एक बार वे एक दलित परिवार के साथ रहे। उन्होंने उस समय उन लोगों की अमूल्य क्षमता तथा योग्यता को देखा–समझा, जिन्हें समाज बहिष्कृत कर देता है। ऐसे सम्पर्कों तथा अनुभवों से ही उन्हें अपने देश की शोचनीय दशा का अन्दाज़ा हुआ, और वे हज़ारों दलित जनों के समर्थक नेता बन गये। हर ओर उन्हें निर्धनता और दु:ख दिखाई देता था, और उनका हृदय दया और करुणा से अत्याधिक द्रवित हो जाता था।

स्वामीजी के लिये उनके यात्रा के पल अत्यन्त मूल्यवान् शिक्षा देने वाले थे।

* * *

हिन्दी ज्युनियर (कक्षा ५ से ७)

विशेष सूचना :

१. प्रत्येक विद्यार्थी को ३ मिनट दिये जायेंगे।

२. कृपया निर्धारित विषय तक सीमित रहिए।

३. निर्णायकों का मुल्यांकन

(अ) विषय : ३० अंक (ब) स्पष्टता : १० अंक (क) प्रभाव : १० अंक

३. नर-नारायण की सेवा

दार्जिलिंग के शान्त वातावरण में स्वामीजी पश्चिम में किये गये कठिन कार्य के पश्चात् विश्राम ले रहे थे। तभी कुछ ऐसा घटित हुआ कि उन्हें अपने विश्राम को स्थगित करना पड़ा। कलकत्ते में प्लेग का प्रकोप हुआ। संक्रामक रोग से भयभीत लोग रोगियों की शुश्रूषा के लिए भी उनके पास न फटकते। स्वामीजी ने अपने गुरु–भाइयों और शिष्यों को बुलाया।

"हम इन बीमार लोगों की शुश्रूषा करने जायेंगे। हम अस्पताल खोलेंगे और हम स्वयं इस भयानक रोग से ग्रस्त लोगों की परिचर्या करेंगे," उन्होंने कहा।

"लेकिन स्वामीजी! यह सब करने के लिए हमारे पास धन कहाँ है?" किसी ने शंका की।

स्वामीजी गुस्से से लाल हो गए। "धन के लिए परेशान मत हो," वे गरजे। "इस सेवा–कार्य में जुटो। यदि धन न हुआ तो हम इस नये मठ को ही बेच देंगे और उससे प्राप्त सारा धन इस कार्य में लगा देंगे। क्या तुम्हें याद नहीं है श्रीरामकृष्ण ने हमें बताया है कि हमें मानव–सेवा के माध्यम से ही प्रभु की सेवा करनी है? इसी मानव–सेवा में प्रभु–सेवा है। इसे हमें करना ही है।"

लेकिन उन्हें मठ नहीं बेचना पड़ा। धन आया और काम हो गया। प्लेग भी समाप्त हुआ और लोग फिर खुशहाल हो गये।

स्वामीजी का हृदय निर्धन तथा उपेक्षित जनता के प्रति भी सदा सहानुभूति से अभिभूत रहा करता था। १९०१ ई. के उत्तरार्ध में कुछ संथाल मज़दूर मठ की जमीन को खोदकर बराबर करने के लिये काम पर लगाये गये थे। वे लोग अत्यन्त गरीब और समाज द्वारा बहिष्कृत थे। उन लोगों के साथ बातचीत करने में स्वामीजी को विशेष आनन्द का बोध होता था और वे अत्यन्त सहानुभूति के साथ उन लोगों के कष्टों का बयान सुनते थे। एक दिन स्वामीजी ने उन लोगों के लिये एक भोज का आयोजन किया तथा ऐसे ऐसे व्यंजन परोसे जो उन्होंने सपने में भी नहीं चखे थे। भोजन समाप्त हो जाने के पश्चात् स्वामीजी ने उनसे कहा– "तुम लोग तो नारायण हो– आज मैंने नारायण को भोग दिया।"

फिर वे एक शिष्य से बोले– "इन्हें देखा! मानो साक्षात् नारायण हैं। कैसे निष्कपट हैं ये लोग!"

तदुपरान्त वे मठ के संन्यासियों को सम्बोधित करते हुए कहने लगे–

"देखो, ये लोग कैसे सरल हैं। इनका दु:ख थोड़ा बहुत दूर कर सकोगे? नहीं तो भगवे वस्त्र पहनने से फिर क्या हुआ? परहित के लिये सर्वस्व अर्पण – इसी को वास्तविक संन्यास कहते है। इन्हें कभी अच्छी चीज़ें खाने को नहीं मिली। मन में आता है, मठ आदि सब बेच दूँ और सब कुछ गरीब–दु:खी दरिद्र–नारायणों में बाँट दूँ। वृक्षतल ही तो हमारा आश्रय है। हाय! देश के लोग भरपेट भोजन भी नहीं पाते, फिर हम किस मुँह से अन्न खाते हैं?... माँ! क्या इनके उद्धार का कोई उपाय न होगा? पाश्चात्य देशों में धर्म–प्रचारार्थ जाने का मेरा एक यह भी उद्देश्य था कि मैं इस देश के लिये अन्न का प्रबन्ध कर सकूँ।

इनकी निर्धनता और कष्ट देखकर कभी–कभी मैं सोचता हूँ, छोड़ दें हम अपनी विद्वत्ता का गर्व और निज की मुक्ति के लिये प्रयास। हम सब मिलकर गाँव–गाँव में घूमकर अपने चरित्र और साधना के बल पर धनिकों को समझाकर धन संग्रह करके ले आयें और दरिद्र–नारायण की सेवा में अपना जीवन बिता दें।..."

"देश गरीब–दुखियों के लिये कुछ नहीं सोचता है रे! जो लोग हमारे राष्ट्र की रीढ़ हैं, जिनके परिश्रम से अन्न पैदा होता है, जिनके एक दिन के लिये भी काम बन्द कर देने पर शहर–भर में हाहाकार मच जाता है – हाय! इस देश में कौन उनके प्रति सहानुभूति रखता है, उनके सुख–दु:ख में सांत्वना प्रदान करता है? मैंने इतनी तपस्या करके यही सार समझा है – जीव जीव में वे ही अधिष्ठित हैं। ये सब उन्हीं के अभिव्यक्त रूप हैं। जो व्यक्ति जीवों की सेवा करता है, एकमात्र वही ईश्वर की पूजा कर रहा है।"

रामेश्वर मंदिर में इश्वर पूजा के बारे में बताते हुए स्वामीजी ने कहा – समस्त उपासनाओं का यही मर्म है कि मनुष्य शुद्ध रहे तथा दूसरों का सदैव भला करे। वह मनुष्य जो शिव को निर्धन, दुर्बल तथा रुग्ण व्यक्ति में भी देखता है वही सचमुच शिव की उपासना करता है, परन्तु यदि वह उन्हें केवल मूर्ति में ही देखता है तो कहा जा सकता है कि उसकी उपासना अभी नितान्त प्रारम्भिक ही है। यदि किसी मनुष्य ने किसी एक निर्धन मनुष्य की सेवा–शुश्रूषा बिना जाति–पाति अथवा ऊँच–नीच के भेद–भाव के विचार से कर ली तो शिव उस मनुष्य से दूसरे एक मनुष्य की अपेक्षा, जो कि उन्हें केवल मन्दिर में देखता है, अधिक प्रसन्न होंगे।

एक धनी व्यक्ति का एक बगीचा था जिसमें दो माली काम करते थे। एक माली बड़ा सुस्त था परन्तु जब कभी वह अपने मालिक को आते देखता तो झट उठकर खड़ा हो जाता और हाथ जोड़कर कहता, "मेरे स्वामी का मुख कैसा सुन्दर है!" और उसके सम्मुख नाचने लगता।

दूसरा माली ज्यादा बातचीत नहीं करता था, उसे तो बस अपने काम से काम था। और वह बड़ी मेहनत से बगीचे में तरह तरह के फल, तरकारी पैदा कर उन्हें स्वयं अपने सिर पर रखकर मालिक के घर पहुँचाता था, यद्यपि मालिक का घर बहुत दूर था। अब इन दो मालियों में से मालिक किसको अधिक चाहेगा? बस ठीक इसी प्रकार यह संसार एक बगीचा है, जिसके मालिक शिव हैं। यहाँ भी दो प्रकार के माली हैं– एक तो वह जो सुस्त, अकर्मण्य तथा ढोंगी है और कभी कभी शिव के सुन्दर नेत्र, नासिका तथा अन्य अंगों की प्रशंसा करता रहता है। और दूसरा ऐसा है जो शिव के सन्तान की, सारे दीन–दुःखी प्राणियों की और उनकी समस्त सृष्टी की चिन्ता रखता है। इन दो प्रकार के लोगों में से कौन शिव को अधिक प्यारा होगा? निश्चय ही, वही जो उनकी सन्तान की सेवा करता है। जो व्यक्ति अपने पिता की सेवा करना चाहता है, उसे अपने भाइयों की सेवा सबसे पहले करनी चाहिए। इसी प्रकार जो शिव की सेवा करना चाहता है, उसे उनके सन्तान की, विश्व के प्राणिमात्र की पहले सेवा करनी चाहिए। शास्त्रों में कहा भी गया है कि जो भगवान के दासों की सेवा करता है वही भगवान का सर्वश्रेष्ठ दास है। यह बात सर्वदा ध्यान में रखनी चाहिए।

मैं यह फिर कहे देता हूँ कि तुम्हें स्वयं शुद्ध रहना चाहिए तथा यदि कोई तुम्हारे पास सहायतार्थ आए, तो जितना तुमसे बन सके, उतनी उसकी सेवा अवश्य करनी चाहिए। यही श्रेष्ठ कर्म कहलाता है। इसी श्रेष्ठ कर्म की शक्ति से तुम्हारा चित्त शुद्ध हो जायेगा और फिर शिव, जो प्रत्येक हृदय में वास करते हैं, प्रकट हो जायेंगे। प्रत्येक हृदय में उनका वास है। या यूँ समझ लो कि यदि शीशे पर धूल पड़ी हो तो उसमें हम अपना प्रतिबिम्ब नहीं देख सकते। अज्ञान तथा पाप ही हमारे हृदयरूपी शीशे पर धूल की भाँति जमा हो गये हैं।

स्वार्थपरता अर्थात् स्वयं के सम्बन्ध में पहले सोचना सबसे बड़ा पाप है। जो मनुष्य यह सोचता रहता है कि मैं ही पहले खा लूँ, मुझे

ही सबसे अधिक धन मिल जाये, मैं ही सर्वस्व का अधिकारी बन जाऊँ, मेरी ही सबसे पहले मुक्ति हो जाये तथा मैं ही औरों से पहले सीधा स्वर्ग को चला जाऊँ, वह व्यक्ति स्वार्थी है। नि:स्वार्थ व्यक्ति तो यह कहता है, 'मुझे अपनी चिन्ता नहीं है, मुझे स्वर्ग जाने की भी कोई आकांक्षा नहीं है, यदि मेरे नरक में जाने से भी किसी को लाभ हो सकता है, तो भी मैं उसके लिए तैयार हूँ।' यह नि:स्वार्थपरता ही धर्म की कसौटी है। जिसमें जितनी ही अधिक नि:स्वार्थपरता है वह उतना ही आध्यात्मिक है, तथा उतना ही शिव के समीप। चाहे वह पंडित हो या मूर्ख, शिव का सामीप्य दूसरों की अपेक्षा उसे ही प्राप्त है, उसे चाहे इसका ज्ञान हो अथवा न हो। परन्तु इसके विपरीत यदि कोई मनुष्य स्वार्थी है, चाहे उसने संसार के सब मन्दिरों के ही दर्शन क्यों न किये हों, सारे तीर्थ क्यों न गया हो और रंग भभूत रमाकर अपनी शक्ल चीते जैसी क्यों न बना ली हो, शिव से वह बहुत दूर है।

* * *

हिन्दी सिनियर (कक्षा ८ से १०)

विशेष सूचना :

१. प्रत्येक विद्यार्थी को ३ मिनट दिये जायेंगे।

२. कृपया निर्धारित विषय तक सीमित रहिए।

३. निर्णायकों का मुल्यांकन

(अ) विषय : ३० अंक (ब) स्पष्टता : १० अंक (क) प्रभाव : १० अंक

१. विश्व के महान शिक्षक

(३ फरवरी १९०० ई. को. शेक्सपीयर क्लब, पॅसाडेना, कैलिफोर्निया में दिया हुआ भाषण)

हिन्दुओं के मतानुसार विश्व चक्राकार तरंगों की भाँति गतिमान है। वह एक बार उठता है और उन्नति की पराकाष्ठा प्राप्त कर लेता है; तदनन्तर उसका पतन प्रारम्भ होता है – कुछ समय तक वह अवनति के गर्त में पड़ा रहता है, मानो पुन: उत्थान के लिए शक्तिसंग्रह कर रहा हो। सागर की भीमकाय तरंगों के समान निरन्तर उत्थान और पतन, पतन और उत्थान, यही विश्व की गति है। मानव समाज के सभी व्यापारों में भी यही तरंगवत् उत्थान और पतन की गति है; राष्ट्रों के इतिहास भी इसी उत्थान और पतन की कहानियाँ हैं, वे उठते हैं और गिरते हैं – उत्थान के बाद पतन-काल आता है और पतन के पश्चात् पहले की अपेक्षा और भी अधिक शक्ति के साथ पुनरुत्थान होता है। निरन्तर यही उत्थान और पतन का चक्र चलता रहता है।

धार्मिक जगत् में भी अनवरत रूप से यही क्रिया चल रही है। प्रत्येक जाति के आध्यात्मिक जीवन में पतन और उत्थान के युग होते हैं। जब जाति की अवनति होती है, तो प्रतीत होता है कि उसकी जीवनशक्ति नष्ट हो गयी है – वह छिन्न-भिन्न हो गयी है। किन्तु वह पुन: बलसंग्रह करती है – उन्नति करने लगती है – जागृति की एक विशाल लहर उठती है, और सदैव यही देखा जाता है कि इस विशालकाय तरंग के उच्चतम शिखर पर कोई दिव्य महापुरुष विराजमान हैं। ये ही संसार के महान विचारक एवं

मनीषी होते हैं, ये ही दुनिया के पैगम्बर, जीवनदर्शन के सन्देश वाहक ऋषि और ईश्वर के अवतार कहलाते हैं।

कुछ व्यक्तियों की धारणा है कि दुनिया में केवल एक ही धर्म, एक ही ईश्वरावतार या एक ही पैगम्बर हो सकता है, किन्तु यह धारणा सत्य नहीं है। इन सब महापुरुषों के जीवन का अध्ययन और मनन करने पर हमें ज्ञान होगा कि उनमें से प्रत्येक को विधाता ने मानो केवल एक – बस एक अंश का अभिनय करने के लिए ही निर्दिष्ट किया था। हम यह भी देखेंगे कि सब स्वरों के समन्वय से ही एकलयता उत्पन्न होती है, किसी एक स्वर से नहीं। विभिन्न राष्ट्रों और जातियों के इतिहास भी यह बतायेंगे कोई जातिविशेष सदा के लिए संसार का उपभोग करने की अधिकारी नहीं रह सकती। जातियों की इस ईश्वरनिर्दिष्ट एकलयता में सभी जातियों को अपने अंश का अभिनय करना पड़ता है, सभी जातियों को अपना अपना जीवनोद्देश्य प्राप्त करना पड़ता है, अपने अपने कर्तव्य की पूर्ति करनी पड़ती है। इन सबकी समष्टि ही उस महान समन्वय – उस महान एकलयता का निर्माण करती है।

हममें से अधिकांश लोग जन्मत: सगुण धर्म, अवतारवाद में श्रद्धा रखते हैं। हम सिद्धान्तों की चर्चा करते हैं, सूक्ष्म तत्त्वों पर विचार–विमर्श करते हैं। यह ठीक है, किन्तु हमारे प्रत्येक कार्य, प्रत्येक विचार से यही प्रकट होता है कि हम किसी तत्त्व को केवल तभी समझ पाते हैं, जब किसी व्यक्तिविशेष के माध्यम से वह हमें प्राप्त होता है। किसी सूक्ष्म तत्त्व की धारणा करने में हम तभी समर्थ होते हैं, जब वह किसी पुरुषविशेष के रूप में साकार रूप धारण कर लेता है। केवल दृष्टान्त की सहायता से ही हम उपदेशों को समझ पाते हैं। काश! ईश्वरेच्छा से हम सब इतने उन्नत होते कि हमें तत्त्व विशेष की धारणा करने में दृष्टान्तों एवं आदर्श पुरुषों के माध्यम की आवश्यकता न पड़ती!

ईश्वर सर्वव्यापी, निराकार एवं निर्गुण तत्त्व है, किन्तु हमारी प्रकृति ही ऐसी है कि हम केवल किसी नररूपधारी अवतार के माध्यम से ही उसकी

उपलब्धि कर सकते हैं – उसका साक्षात्कार कर सकते हैं। जब इन महान ज्योतिर्मय आत्माओं का विश्व में आविर्भाव होता है तभी मनुष्य को ईश्वर का साक्षात्कार होता है।

मानव जाति के इतिहास में विश्व के कल्याण के लिए जो अवतार हुए हैं, उनका जीवन–कार्य प्रारम्भ से ही निश्चित रहा है। उनके जीवन का सारा नक्शा, सारी योजना उनकी आँखों के सामने थी और उससे वे एक इंच भर भी न डिगे। चूँकि वे अपने जीवन के लिए एक कार्य लेकर आते हैं, अत: वे एक संदेश भी लाते हैं।

मानव जाति के इन महान आचार्यों में तुम्हें यह एक लक्षण सर्वत्र दिखेगा कि उनमें प्रचण्ड आत्मविश्वास भरा होता है। उनका यह आत्मविश्वास असाधारण है।

मेरे कथन का तात्पर्य और उद्देश्य केवल यही है कि मैंने अपने जीवन में इन सब अवतारों की उपासना कर सकना सम्भव पाया है, तथा भविष्य में होनेवाले अनेक अवतारों की उपासना करने को प्रस्तुत हूँ।

अत: तुममें से जो जो किसी एक विशेष अवतार में ही सत्य एवं ईश्वर की अभिव्यक्ति देखते हैं और दूसरों में नहीं, उनके विषय में मेरा स्वाभाविक निष्कर्ष यही है कि वे किसी भी अवतार के ईश्वरत्व को नहीं जानते। ऐसे व्यक्तियों ने केवल कुछ शब्द मात्र निगल लिये है, और जिस प्रकार राजनीतिक दलबन्दी में व्यक्ति सत्यासत्य कि चिन्ता न कर, किसी एक दल का साथ देने लगते हैं, उसी प्रकार ऐसे व्यक्तियों ने भी एक सम्प्रदाय विशेष को ही अपना सर्वस्व मान लिया है। पर यह धर्म नहीं है।

मैंने अपने अल्प अनुभव से यही सीखा है कि धर्म में जो दोष–त्रुटियाँ लोग देखते हैं, उनके लिए धर्म का कोई उत्तरदायित्व नहीं है, उसमें धर्म का कोई दोष नहीं है। धर्म ने कभी मनुष्यों पर अत्याचार करने की आज्ञा नहीं दी, धर्म ने कभी स्त्रियों को चुडैल और डायन कहकर जीवित जला देने का आदेश नहीं दिया, किसी धर्म ने कभी इस प्रकार अन्यायपूर्ण कार्य करने

की शिक्षा नहीं दी। तब लोगों को ये अत्याचार, ये अनाचार करने के लिए किसने उत्तेजित किया? राजनीति ने – धर्म ने नहीं, और यदि इस प्रकार की कुटिल राजनीति धर्म का स्थान अपहरण कर ले, धर्म का नाम धारण कर ले, तो यह दोष किसका है?

अत: जब एक व्यक्ति खड़ा होकर यह कहता है कि केवल मेरा धर्म ही सच्चा है, मेरा पैगम्बर ही सच्चा है, तो वह झूठ बोलता है, उसे धर्म का 'क, ख' भी मालूम नहीं। धर्म न तो सिद्धान्तों की थोथी बकवास है, न मत–मतान्तरों का प्रतिपादन और खण्डन है और न बौद्धिक सहमति ही है। धर्म का अर्थ है – हृदय के अन्तर्तम प्रदेश में सत्य की उपलब्धि। धर्म का अर्थ है ईश्वर का संस्पर्श प्राप्त करना, इस तत्त्व की प्रतीति करना, उपलब्धि करना कि मैं आत्मस्वरूप हूँ और अनन्त परमात्मा एवं उसके अनेक अवतारों से मेरा युग युग का अच्छेद्य सम्बन्ध है।

सभी युगों और सभी देशों के इन महान नर–नारियों को पहचानो, और यह ज्ञान प्राप्त करो कि उनमें परस्पर में कोई भेद, कोई अंतर नहीं है। जहाँ कहीं भी यथार्थ धर्म का विकास हुआ है, अथवा दिव्य ब्रह्म–संस्पर्श हुआ है, ईश्वर का साक्षात्कार हुआ है, आत्मा द्वारा परमात्मा की प्रत्यक्ष उपलब्धि हुई है, वहाँ व्यक्तियों का हृदय इतना विशाल एवं उदार बन गया है कि वे देश तथा काल के बन्धनों से मुक्त होकर ईश्वर और उसके अवतारों की परम–ज्योति का दर्शन सर्वत्र – सभी धर्मों और सभी देशों के अवतारों में करते हैं।

ये सब पैगम्बर और ईशदूत यथार्थ में महान् और सच्चे थे। क्यों? इसलिए कि उनमें से हर एक ने अपने जीवन-काल में एक एक महान भाव का – एक एक महान सिद्धान्त का प्रचार किया है। उदाहरण के लिए भारत के महान अवतारों को ही लो। ये धर्म के प्राचीनतम संस्थापक हैं। पहले हम श्रीकृष्ण का ही जीवन लें। तुममें से जो गीता पाठक हैं, वे जानते हैं कि उस ग्रन्थ का मूल सिद्धान्त है अनासक्ति, उसकी मुख्य शिक्षा है अनासक्त रहो। तुम्हारे हृदय के प्रेम पर केवल एक व्यक्ति का अधिकार

है – केवल उसका अधिकार है, जो कभी बदलता नहीं। वह कौन है? वह केवल ईश्वर ही है।

भगवान श्रीकृष्ण के उपदेशों का यह केवल एक पहलू है। उनकी दूसरी महान शिक्षा यह है : संसार में रहकर जो व्यक्ति कार्य करता है और अपने कार्यों के शुभाशुभ फल ईश्वरार्पित कर देता है, वह संसार के पापों से निर्लिप्त रहता है। जिस भाँति कमल जल में जन्म लेकर भी जल से निर्लिप्त रहता है, उसी भाँति ऐसा व्यक्ति सांसारिक कर्मों को करते हुए भी, उन्हें ईश्वर को समर्पित कर देने पर दोष–लिप्त नहीं होता।

इसलिए भगवान श्रीकृष्ण की शिक्षा है कि अपने कर्तव्य–कर्म त्याग कर मत भागो; मनुष्य की भाँति उन्हें पूर्ण करने का यत्न करो; उनके फलाफल की चिन्ता न करो।

अब भगवान गौतम बुद्ध के महान सन्देश को सुनो। अनायास ही उनकी महान वाणी हृदय में घर कर लेती है। बुद्ध ने कहा है, 'अपनी स्वार्थपूर्ण भावनाओं का उन्मूलन कर दो, स्वार्थपरता की ओर ले जानेवाली सारी बातें नष्ट कर दो। स्त्री–पुत्र–परिवार आदि बन्धनों तथा सांसारिक प्रपंचों से दूर रहो और सम्पूर्णतया स्वार्थशून्य बनो।'

अब तनिक नाजरथनिवासी ईशदूत ईसा को देखो। उनकी शिक्षा है, 'प्रस्तुत रहो, स्वर्गराज्य अत्यन्त समीप है।'

'प्रस्तुत रहो, स्वर्गराज्य अत्यन्त समीप है। एक क्षण का भी विलम्ब न होने दो। कल पर कुछ न छोड़ो और उस महान तथा परम अवस्था के लिए सदा प्रस्तुत रहो, वह तुम्हारे निकट किसी भी क्षण उपस्थित हो सकती है।' ईसा के इस सन्देश का भी हमारे हृदय में उच्च स्थान है। हम आदरपूर्वक इस उपदेश को शिरोधार्य करते हैं और प्रणाम करते हैं उस महान अवतार को, ईश्वर के उस विग्रह रूप को जिसने दो सहस्र वर्ष पूर्व मानव जाति को प्रेम एवं सदाचार की शिक्षा दी थी।

इसके पश्चात् हमारी दृष्टि समानता के उस महान सन्देशवाहक पैगम्बर

मुहम्मद साहब की ओर जाती है।

पैगम्बर मुहम्मद साहब दुनिया में समता, बराबरी के सन्देशवाहक थे – वे मानव जाति में, मुसलमानों में भ्रातृ–भाव के प्रचारक थे।

पैगम्बर मुहम्मद साहब ने अपने जीवन के दृष्टान्त से यह दिखला दिया कि मुसलमान मात्र में सम्पूर्ण साम्य एवं भ्रातृभाव रहना चाहिए। उनके धर्म में जाति, मतामत, वर्ण, लिंग आदि पर आधारित भेदों के लिए कोई स्थान न था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हर अवतार, हर पैगम्बर ने दुनिया को एक न एक महान सत्य का सन्देश दिया है। जब तुम पहले उस सन्देश को सुनते हो और तत्पश्चात् उनकी जीवनी का अवलोकन करते हो, तो उस सत्य के प्रकाश में उनका सारा जीवन व्याख्यायित दिखायी पड़ता है।

क्या और भी महान पुरुष अवतार ग्रहण करेंगे? निश्चय ही वे धरा पर अवतीर्ण होंगे। किन्तु उनके आगमन की प्रतीक्षा में मत बैठे रहो। प्राचीन काल के विभिन्न अवतारों के समस्त सन्देशों को आत्मसात कर उन्हें अपनी अनुभूति, अपनी उपलब्धि के योग से पूर्ण बना लो और इस अंधकारामय युग के, इस त्रस्त मानव जाति के मसीहा बन जाओ। ये सभी अवतार महान हैं, प्रत्येक ने हमारे लिए कुछ कुछ वसीयत छोड़ी है, वे हमारे ईश्वर हैं। हम उनके चरणों में प्रणाम करते हैं, हम उनके क्षुद्र किंकर हैं। किन्तु इसके साथ साथ हम स्वयं को भी नमस्कार करते हैं, क्योंकि वे यदि ईश्वर–पुत्र और अवतार हैं, तो हम भी वही हैं। उन्होंने अपनी पूर्णता पहले प्राप्त कर ली है, और हम भी यहीं और इसी जीवन में पूर्णता प्राप्त कर लेंगे। ईसा के शब्दों का स्मरण करो, 'स्वर्ग–राज्य निकट ही है'। इसलिए इसी क्षण हम सब को यह दृढ़ संकल्प कर लेना चाहिए कि 'मैं पैगम्बर बनूँगा; मानव जाति का मसीहा बनूँगा; मैं ज्योतिस्वरूप भगवान का सन्देशवाहक बनूँगा – मैं ईश्वर–पुत्र बनूँगा नहीं, मैं स्वयं ईश्वरस्वरूप बनूँगा।'

(संदर्भ ग्रंथ : विवेकानंद साहित्य सप्तम खंड – ५७७–१९३)

* * *

हिन्दी सिनियर (कक्षा ८ से १०)

विशेष सूचना :

१. प्रत्येक विद्यार्थी को ३ मिनट दिये जायेंगे।

२. कृपया निर्धारित विषय तक सीमित रहिए।

३. निर्णायकों का मुल्यांकन

(अ) विषय : ३० अंक (ब) स्पष्टता : १० अंक (क) प्रभाव : १० अंक

२. सदा बढ़े चलो

तुम तो ईश्वर की संतान हो, अमर आनंद के भागी हो, पवित्र और पूर्ण आत्मा हो। अतएव तुम कैसे अपने को ज़बरदस्ती दुर्बल कहते हो?

उठो, साहसी बनो, वीर्यवान बनो। तुम जो कुछ बल या सहायता चाहो, सब तुम्हारे ही भीतर विद्यमान है।

जब तक करोड़ों भूखे और अशिक्षित रहेंगे, तब तक मैं प्रत्येक उस आदमी को विश्वासघातक समझूँगा, जो उनके खर्च पर शिक्षित हुआ है, परंतु जो उनपर तनिक भी ध्यान नहीं देता। वे लोग जिन्होंने गरीबों को कुचलकर धन पैदा किया है और अब ठाठ–बाट से अकड़कर चलते हैं, यदि उन बीस करोड़ देशवासियों के लिए जो इस समय भूखे और असभ्य बने हुए हैं, कुछ नहीं करते, तो वे घृणा के पात्र हैं।

"आत्मवत् सर्वभूतेषु" (सभी प्राणियों को स्वयं की तरह देखना) क्या यह वाक्य केवल मात्र पोथी में निबद्ध रहने के लिए है? जो लोग गरीबों को रोटी का टुकड़ा नहीं दे सकते, वे फिर मुक्ति क्या दे सकते हैं? दूसरों के श्वास–प्रश्वासों से जो अपवित्र बन जाते हैं, वे फिर दूसरों को क्या पवित्र बना सकते हैं? अस्पृश्यता एक प्रकार की मानसिक व्याधि है: उससे सावधान रहना।

प्रत्येक वस्तु का अग्रांश दीनों को देना चाहिए, अवशिष्ट भाग पर ही हमारा अधिकार है। सब से पहले उस विराट की पूजा करो, जिसे तुम

अपने चारों ओर देख रहे हो – 'उसकी' पूजा करो।' 'वर्शिप' ही इस संस्कृत शब्द का ठीक समानार्थक है, अंग्रेज़ी के किसी अन्य शब्द से काम नहीं चलेगा। ये मनुष्य और पशु, जिन्हें हम आस–पास और आगे–पीछे देख रहे हैं, ये ही हमारे ईश्वर हैं। इनमें सब से पहले पूज्य हैं हमारे अपने देशवासी। अपना सारा ध्यान इसी एक ईश्वर पर लगाओ, हमारा देश ही हमारा जागृत देव है। सर्वत्र उसके हाथ हैं, सर्वत्र उसके पैर हैं और सर्वत्र उसके कान हैं। समझ लो कि दूसरे देवी–देवता सो रहे हैं। जिन देवी–देवताओं को हम देख नहीं पाते, उनके पीछे तो हम बेकार दौड़ें और जिस विराट देवता को हम अपने चारों ओर देख रहे हैं, उसकी पूजा ही न करें?

अतएव हर एक स्त्री को, हर एक पुरुष को और सभी को ईश्वर के ही समान देखो। मैंने इतनी तपस्या करके यही सार समझा है कि जीव जीव में वह अधिष्ठित है, इसके अतिरिक्त ईश्वर और कुछ भी नहीं। जो जीवों पर दया करता है, वही व्यक्ति ईश्वर की सेवा कर रहा है। यदि तुम अपने भाई मनुष्य की, व्यक्त ईश्वर की, उपासना नहीं कर सकते तो उस ईश्वर की कल्पना कैसे कर सकोगे, जो अव्यक्त है?

अपने तन, मन और वाणी को 'जगद्धिताय' अर्पित करो। तुमने पढ़ा है. 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव' 'अपनी माता को ईश्वर समझो, अपने पिता को ईश्वर समझो'। परंतु मैं कहता हूँ, दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव – गरीब, निरक्षर, मूर्ख और दुःखी, इन्हें अपना ईश्वर मानो। इनकी सेवा करना ही परम धर्म समझो।

मैं अच्छी तरह जानता हूँ, भारतमाता अपनी उन्नति के लिए अपने श्रेष्ठ संतानों की बलि चाहती है। संसार के वीरों को और सर्वश्रेष्ठों को 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' अपना बलिदान करना होगा। असीम दया और प्रेम से परिपूर्ण सैकड़ों बुद्धों की आवश्यकता है।

मनुष्य, केवल मनुष्य चाहिए। बाकी सब कुछ अपने आप हो जायेगा। आवश्यकता है वीर्यवान, तेजस्वी, श्रद्धासंपन्न और दृढविश्वासी निष्कपट

नवयुवकों की। ऐसे सौ मिल जायें, तो संसार का कायाकल्प हो जाये। पहले उनका जीवननिर्माण करना होगा, तब कहीं काम होगा।

जो सच्चे हृदय से भारत के कल्याण का व्रत ले सकें तथा उसे ही जो अपना एकमात्र कर्तव्य समझें – ऐसे युवकों के साथ कार्य करते रहो। उन्हें जागृत करो, संगठित करो तथा उनमें त्याग का मंत्र फूँक दो। भारतीय युवकों पर ही यह कार्य संपूर्ण रूप से निर्भर है।

मैंने तो इन नवयुवकों का संगठन करने के लिए जन्म लिया है। यही क्या, प्रत्येक नगर में सैंकड़ों और मेरे साथ सम्मिलित होने को तैयार हैं, और मैं चाहता हूँ कि इन्हें अप्रतिहत गतिशील तरंगो की भाँति भारत में सब ओर भेजें, जो दीन–हीनों एवं पददलितों के द्वार पर सुख, नैतिकता, धर्म एवं शिक्षा उड़ेल दें। और इसे मैं करूँगा, या मरूँगा।

उठो! उठो! संसार दु:ख से जल रहा है। क्या तुम सो सकते हो? हम बार बार पुकारें, जब तक सोते हुए देवता न जाग उठें, जब तक अंतर्यामी देव उस पुकार का उत्तर न दें। जीवन में और क्या है?

हमेशा बढ़ते चलो! मरते दम तक गरीबों और पददलितों के लिए सहानुभूति – यही हमारा आदर्शवाद है। वीर युवकों! बढ़े चलो! ईश्वर के प्रति आस्था रखो। किसी चालबाज़ी की आवश्यकता नहीं। उससे कुछ नहीं होता। दु:खियों का दर्द समझो और ईश्वर से सहायता की प्रार्थना करो – वह अवश्य मिलेगी।.... युवकों! मैं गरीबों, मूर्खों और उत्पीड़ितों के लिये इस सहानुभूति और प्राणप्रण प्रयत्न को थाती के तौर पर तुम्हें अर्पण करता हूँ। ... और तुम प्रतिज्ञा करो कि अपना सारा जीवन इन तीस करोड़ लोगों के उद्धार कार्य में लगा दोगे जो दिनों दिन अवनति के गर्त में गिरते जा रहे हैं। यदि तुम सचमुच मेरी संतान हो, तो तुम किसी से न डरोगे, न किसी बात पर रुकोगे ! तुम सिंहतुल्य होगे। हमें भारत को और पूरे संसार को जगाना है।

गाँव गाँव तथा घर घर में जाकर लोकहित एवं ऐसे कार्यों में

आत्मनियोग करो, जिससे कि जगत का कल्याण हो सके। चाहे अपने को नरक में क्यों न जाना पड़े, परंतु दूसरों की मुक्ति हो। अरे, मृत्यु जब अवश्यंभावी है तो ईंट–पत्थरों की तरह मरने के बजाय वीर की तरह मरना क्या अच्छा नहीं?... जराजीर्ण होकर थोड़ा थोड़ा करके क्षीण होते हुए मरने के बजाय वीर की तरह दूसरों के अल्प कल्याण के लिए लड़कर उसी समय मर जाना अच्छा है।

तुम काम में लग जाओ: फिर देखोगे, इतनी शक्ति आयेगी कि तुम उसे सँभाल न सकोगे। दूसरों के लिए रत्ती भर काम करने से भीतर की शक्ति जाग उठती है। दूसरों के लिए रत्ती भर सोचने से धीरे धीरे हृदय में सिंह के समान बल आ जाता है। तुम लोगों से मैं इतना स्नेह करता हूँ, परंतु यदि तुम लोग दूसरों के लिए परिश्रम करते करते मर भी जाओ तो भी यह देखकर मुझे प्रसन्नता ही होगी।

केवल वही व्यक्ति सब की अपेक्षा उत्तम रूप से कार्य करता है, जो पूर्णतया नि:स्वार्थी है, जिसे न तो धन की लालसा है, न कीर्ति की और न किसी अन्य वस्तु की ही। और मनुष्य जब ऐसा करने में समर्थ हो जायेगा, तो वह भी एक बुद्ध बन जायेगा, और उसके भीतर से ऐसी शक्ति प्रकट होगी, जो संसार की अवस्था का संपूर्ण रूप से परिवर्तन कर सकती है।

प्रेम ही मैदान जीतेगा। क्या तुम अपने भाई – मनुष्यजाति – को प्यार करते हो? ईश्वर को कहाँ ढूँढने चले हो – ये सब गरीब, दु:खी, दुर्बल मनुष्य क्या ईश्वर नहीं हैं? इन्हीं की पूजा पहले क्यों नहीं करते? गंगा–तट पर कुआँ खोदने क्यों जाते हो? प्रेम की असाध्यसाधिनी शक्ति पर विश्वास करो।

हम धन्य हैं, जो हमें यह सौभाग्य प्राप्त है कि हम उनके लिए कर्म करें –उनको सहायता देने के लिए नहीं। इस 'सहायता' शब्द को मन से सदा के लिए निकाल दो। तुम किसी की सहायता नहीं कर सकते। यह सोचना कि तुम सहायता कर सकते हो, महा अधर्म है – घोर ईशनिंदा

है। केवल ईश्वरपूजा के भाव से सेवा करो। दरिद्र व्यक्तियों में हमको भगवान को देखना चाहिए, अपनी ही मुक्ति के लिए उनके निकट जाकर हमें उनकी पूजा करनी चाहिए। अनेक दु:खी और कंगाल प्राणी हमारी मुक्ति के माध्यम हैं, ताकि हम रोगी, पागल, कोढ़ी, पापी आदि स्वरूपों में विचरते हुए प्रभु की सेवा करके अपना उद्धार करें।

अपने को भूल जाओ: आस्तिक हो या नास्तिक – प्रत्येक के लिए यही प्रथम पाठ है।

जब तुम सुख की कामना समाज के लिए त्याग सकोगे तब तुम भगवान बुद्ध बन जाओगे, तब तुम मुक्त हो जाओगे।

आओ, हम सब प्रार्थना करें, 'हे कृपामयी ज्योति, पथप्रदर्शन करो' और अंधकार में से एक किरण दिखाई देगी, पथप्रदर्शक कोई हाथ आगे बढ़ आयेगा। जो दारिद्र्य, तथा प्रबलों के अत्याचारों से पीड़ित हैं, उन भारत के करोड़ों पददलितों के लिए प्रत्येक आदमी दिन–रात प्रार्थना करें। मैं धनवान और उच्च श्रेणी की अपेक्षा उन पीड़ितों को ही धर्म का उपदेश देना पसंद करता हूँ। मैं न कोई तत्त्व–जिज्ञासु हूँ, न दार्शनिक हूँ और न सिद्ध पुरुष हूँ। मैं निर्धन हूँ और निर्धनों से प्रेम करता हूँ। बीस करोड़ नर–नारी जो सदा गरीबी और मूर्खता के दलदल में फँसे हैं, उनके लिए किसका हृदय रोता है?... उसी को मैं महात्मा कहता हूँ, जिसका हृदय गरीबों के लिए द्रवीभूत होता है।... कौन उनके दु:ख में दु:खी है?... ये ही तुम्हारे ईश्वर हैं, ये ही तुम्हारे इष्ट बनें। निरंतर इन्हीं के लिए सोचो, इन्हीं के लिए काम करो, इन्हीं के लिए निरंतर प्रार्थना करो – प्रभु तुम्हें मार्ग दिखायेगा।

बड़े काम करने के लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है। पहले, हृदय की अनुभव–शक्ति। ... क्या तुम अनुभव करते हो? क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि देव और ऋषियों की करोड़ो संतानें आज पशुतुल्य हो गयी हैं? क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि लाखों आदमी आज भूखों मर रहे हैं और लाखों लोग शताब्दियों से इसी भाँति

भूखों मरते आये हैं?... क्या तुम यह सब सोचकर बेचैन हो जाते हो? क्या इस भावना ने तुम्हें निद्राहीन कर दिया है? क्या यह भावना तुम्हारे रक्त के साथ मिलकर तुम्हारी धमनियों में बहती है? क्या वह तुम्हारे हृदय स्पंदन से मिल गयी है? क्या उसने तुम्हें पागल सा बना दिया है? क्या देश की दुर्दशा की चिंता ही तुम्हारे ध्यान का एकमात्र विषय बन बैठी है? और क्या इस चिंता में व्याकुल हो जाने से तुम अपने नाम–यश, पुत्र–कलत्र, धन–संपत्ति, यहाँ तक कि अपने शरीर की भी सुध बिसर गये हो? क्या तुमने ऐसा किया है? यदि 'हाँ', तो जानो कि तुमने देशभक्त होने की पहली सीढ़ी पर पैर रखा है। हाँ, केवल पहली ही सीढ़ी पर।

दूसरी बात – क्या इस दुर्दशा का निवारण करने के लिए तुमने कोई यथार्थ कर्तव्य–पथ निश्चित किया है? क्या लोगों की भर्त्सना न कर, उनकी सहायता का कोई उपाय सोचा है? क्या स्वदेशवासियों को उनकी इस जीवन्मृत अवस्था से बाहर निकालने के लिए कोई मार्ग ठीक किया है? क्या उनके दु:खों को कम करने के लिए दो सांत्वनादायक शब्दों को खोजा है?... किंतु इतने ही से पूरा न होगा।

तीसरी बात – क्या तुम पर्वताकार विघ्न–बाधाओं को लाँघकर कार्य करने के लिए तैयार हो? यदि सारी दुनिया हाथ में नंगी तलवार लेकर तुम्हारे विरोध में खड़ी हो जाय, तो भी क्या तुम जिसे सत्य समझते हो, उसे पूरा करने का साहस करोगे? फिर भी क्या तुम उसके पीछे लगे रहकर अपने लक्ष्य की ओर सतत बढ़ते रहोगे? क्या तुममें ऐसी दृढ़ता है?

यदि तुममें ये तीन बातें हैं, तो तुममें से प्रत्येक अद्भुत कार्य कर सकता है।

जिससे उद्देश्य एवं लक्ष्य कार्य में परिणित हो जाय, उसी के लिए प्रयत्न करो। मेरे साहसी, बच्चों! काम में जी–जान से लग जाओ! नाम, यश अथवा अन्य तुच्छ विषयों के लिए पीछे मत देखो। स्वार्थ को बिल्कुल त्याग दो और कार्य करो।

आगे बढ़ो। हमें अनंत शक्ति, अनंत उत्साह, अनंत साहस तथा

अनंत धैर्य चाहिए, तभी महान कार्य संपन्न होगा।

मेरे बच्चों, मैं जो चाहता हूँ वह है लोहे की नसें और फौलाद के स्नायु, जिनके भीतर ऐसा मन वास करता हो, जो कि वज्र के समान पदार्थ का बना हो। बल, पुरुषार्थ, क्षात्रवीर्य और ब्रह्मतेज !

आज्ञा–पालन के गुण का अनुशीलन करो, लेकिन अपने धर्मविश्वास को न खोओ। गुरुजनों के अधीन हुए बिना कभी भी शक्ति केंद्रीभूत नहीं हो सकती, और बिखरी हुई शक्तियों को केंद्रीभूत किये बिना कोई महान कार्य नहीं हो सकता।

जो कुछ असत्य है, उसे पास न फटकने दो। सत्य पर डटे रहो; बस तभी हम सफल होंगे – शायद थोड़ा अधिक समय लगे, पर सफल हम अवश्य होंगे। इस तरह काम करो कि मानो तुममें से हर एक के ऊपर सारा काम आ पड़ा है।

नीतिपरायण तथा साहसी बनो, अंत:करण पूर्णतया शुद्ध रहना चाहिए। पूर्ण नीतिपरायण तथा साहसी बनो – प्राणों के लिए भी कभी न डरो। धार्मिक मतमतांतरों को लेकर व्यर्थ में माथा–पच्ची मत करो। कायर लोग ही पापाचरण करते हैं, वीरपुरुष कभी पापानुष्ठान नहीं करते – यहाँ तक कि कभी वे मन में भी पाप का विचार नहीं लाते।

इन दो चीज़ों से बचे रहना – अधिकार–लालसा और ईर्ष्या। सदा आत्मविश्वास का अभ्यास करना।

पहले आदमी – 'मनुष्य' उत्पन्न करो। हमें अभी 'मनुष्यों' की आवश्यकता है, और बिना श्रद्धा के मनुष्य कैसे बन सकते हैं?

उठो, जागो, स्वयं जागकर औरों को जगाओ। अपने नर–जन्म को सफल करो। **"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत"** (उठो, जागो और तब तक रुको नहीं, जब तक लक्ष्य प्राप्त न हो जाय)।

* * *

हिन्दी सिनियर (कक्षा ८ से १०)

विशेष सूचना :

१. प्रत्येक विद्यार्थी को ३ मिनट दिये जायेंगे।

२. कृपया निर्धारित विषय तक सीमित रहिए।

३. निर्णायकों का मुल्यांकन

(अ) विषय : ३० अंक (ब) स्पष्टता : १० अंक (क) प्रभाव : १० अंक

३. कर्म और उसका रहस्य

(जनवरी ४, १९०० ई. को लॉस एंजिलिस, कैलिफोर्निया)

अपने जीवन में मैंने जो श्रेष्ठतम पाठ पढ़े हैं, उनमें एक यह है कि किसी भी कार्य के साधनों के विषय में उतना ही सावधान रहना चाहिए, जितना कि उसके साध्य के विषय में। जिनसे मैंने यह बात सीखी, वे एक महापुरुष थे। यह महान् सत्य स्वयं उनके जीवन में प्रत्यक्ष रूप में परिणत हुआ था। इस एक सत्य से मैं सर्वदा बड़े बड़े पाठ सीखता आया हूँ और मेरा यह मत है कि सब प्रकार की सफलताओं की कुंजी इसी तत्त्व में है – साधनों की ओर भी उतना ही ध्यान देना आवश्यक है, जितना साध्य की ओर।

हमारे जीवन में एक बड़ा दोष यह है कि हम आदर्श से ही इतना अधिक आकृष्ट रहते हैं, लक्ष्य हमारे लिए इतना अधिक आकर्षक होता है, ऐसा मोहक होता है और हमारे मानस क्षितिज पर इतना विशाल बन जाता है कि बारीकियाँ हमारी दृष्टि से ओझल हो जाती हैं।

लेकिन कभी असफलता मिलने पर हम यदि बारीकि से उसकी छानबीन करें, तो निन्यानबे प्रतिशत यही पायेंगे कि उसका कारण था हमारा साधनों की ओर ध्यान न देना। हमें आवश्यकता है अपने साधनों को पुष्ट करने की और उन्हें पूर्ण बनाने की। यदि हमारे साधन बिल्कुल ठीक हैं, तो साध्य की प्राप्ति होगी ही। हम यह भूल जाते हैं कि

कारण ही कार्य का जन्मदाता है, कार्य स्वत: उत्पन्न नहीं हो सकता, और जब तक कारण अभीष्ट, समुचित और सशक्त न हो, कार्य की उत्पत्ति नहीं होगी। एक बार हमने ध्येय निश्चित कर लिया और उसके साधन पक्के कर लिए कि फिर हम ध्येय को लगभग छोड़ सकते हैं, क्योंकि हम विश्वस्त हैं कि यदि साधन पूर्ण हैं, तो साध्य तो प्राप्त ही होगा। जब कारण विद्यमान है, तो कार्य की उत्पत्ति होगी ही। उसके बारे में विशेष चिन्ता की कोई आवश्यकता नहीं। यदि कारण के विषय में हम सावधान रहें, तो कार्य स्वयं सम्पन्न हो जायेगा। कार्य है ध्येय की सिद्धि; और कारण है साधन। इसलिए साधन की ओर ध्यान देते रहना जीवन का एक बड़ा रहस्य है।

यदि हम अपने जीवन का विश्लेषण करें तो हम देखेंगे कि दु:ख का सबसे बड़ा कारण यह है : हम कोई बात हाथ में लेते हैं और अपनी पूरी ताकत उसमें लगा देते हैं; कभी–कभी असफलता मिलती है, पर फिर भी हम उसका त्याग नहीं कर सकते। यह आसक्ति ही हमारे दु:ख का सबसे बड़ा कारण है। हम जानते हैं कि वह हमें हानि पहुँचा रही है और उससे चिपके रहने से केवल दु:ख ही हाथ आयेगा, परन्तु फिर भी हम उससे अपना छुटकारा नहीं कर सकते।

दु:ख का एकमेव कारण यह है कि हम आसक्त हैं, हम बँधते जा रहे हैं। इसीलिए गीता में कहा है : **निरंतर काम करते रहो, पर आसक्त मत होओ; बन्धन में मत पड़ो।** प्रत्येक वस्तु से अपनेआप को स्वतंत्र बना लेने की शक्ति स्वयं में संचित रखो। वह वस्तु तुम्हें बहुत प्यारी क्यों न हो, तुम्हारा मन उसके लिए चाहे जितना ही लालायित क्यों न हो, उसके त्यागने में तुम्हें चाहे जितना कष्ट क्यों न उठाना पड़े, फिर भी अपनी इच्छानुसार उसके त्याग करने की अपनी शक्ति सँजोये रहो।

कमज़ोर न तो इहजीवन के योग्य हैं, न किसी परजीवन के। दुर्बलता से मनुष्य गुलाम बनता है। दुर्बलता से ही सब प्रकार के शारीरिक और

मानसिक दु:ख आते हैं। दुर्बलता ही मृत्यु है। लाखों – करोड़ों कीटाणु हमारे आसपास हैं, पर जब तक हम दुर्बल नहीं होते, जब तक शरीर उनके प्रति पूर्व–प्रवृत्त नहीं होता, तब तक वे हमें कोई हानि नहीं पहुँचा सकते। ऐसे करोड़ों दु:ख रूपी कीटाणु हमारे आसपास क्यों न मंडराते रहें, पर कुछ चिन्ता न करो। जब तक हमारा मन कमज़ोर नहीं होता, तब तक उनकी हिम्मत नहीं कि वे हमारे पास फटकें, उनमें ताकत नहीं कि वे हम पर हमला करें। यह एक बड़ा सत्य है कि **बल ही जीवन है और दुर्बलता ही मरण।** बल ही अनन्त सुख है, अमर और शाश्वत जीवन है, और दुर्बलता ही मृत्यु।

जो कुछ हम करते हैं, उसके बदले में हम कुछ चाह रखते हैं। हम लोग हैं व्यापारी। हम जीवन के व्यापारी हैं, शील के व्यापारी हैं, धर्म के व्यापारी हैं। अफसोस। हम प्यार के भी व्यापारी हैं।

यदि तुम व्यापार करने चलो, यदि वह लेन–देन का सवाल है, बेचने और मोल लेने का सवाल है, तो तुम्हें क्रय और विक्रय के नियमों का पालन करना होगा। कभी समय अच्छा होता है, कभी बुरा। भाव में चढ़ाव–उतार होता ही रहता है और कभी चोट खा जाने की आशा तुम कर सकते हो। व्यापार तो आइने में मुँह देखने के समान है। तुम्हारा प्रतिबिम्ब उसमें पड़ता है। तुम मुँह बनाओ और आइने में मुँह बन जाता है। तुम हँसो और आइना हँसने लगता है। यह है खरीद और बिक्री, लेन और देन।

हम फँस जाते हैं। कैसे? उससे नहीं जिसे हम देते हैं, वरन् उससे जिसके पाने की हम अपेक्षा करते हैं। हमारे प्यार के बदले हमें मिलता है दु:ख। इसलिए नहीं कि हम प्यार करते हैं, वरन् इसलिए कि हम बदले में चाहते हैं प्यार। जहाँ चाह नहीं है, वहाँ दु:ख भी नहीं है। वासना, चाह – यही दु:खों की जननी है। वासनाएँ सफलता और असफलता के नियमों से बद्ध हैं। वासनाओं का परिणाम दु:ख ही होता है।

अतएव, सच्चे सुख और यथार्थ सफलता का महान रहस्य यह है कि बदले में कुछ भी न चाहनेवाला बिल्कुल नि:स्वार्थी व्यक्ति ही सबसे अधिक सफल व्यक्ति होता है।

कुछ भी न माँगो, बदले में कोई चाह न रखो। तुम्हें जो कुछ देना हो, दे दो। वह तुम्हारे पास वापस आ जायेगा; लेकिन आज ही उसका विचार मत करो। वह हज़ार गुना होकर वापस आयेगा, पर तुम अपनी दृष्टि उधर मत रखो। देने की ताकत पैदा करो। दे दो और बस काम खत्म हो गया। यह बात जान लो कि सम्पूर्ण जीवन दानस्वरुप है; प्रकृति तुम्हें देने के लिए बाध्य करेगी। इसलिए स्वेच्छापूर्वक दो। एक न एक दिन तुम्हें दे देना ही पड़ेगा।

इस संसार में तुम जोड़ने के लिए आते हो। मुठ्ठी बाँधकर तुम चाहते हो लेना, लेकिन प्रकृति तुम्हारा गला दबाती है और तुम्हें मुठ्ठी खोलने को मजबूर करती है। तुम्हारी इच्छा हो या न हो, तुम्हें देना ही पड़ेगा। जिस क्षण तुम कहते हो कि 'मैं नहीं दूँगा', एक घूँसा पड़ता है और तुम चोट खा जाते हो। दुनिया में आये हुए प्रत्येक व्यक्ति को अन्त में, अपना सर्वस्व दे देना होगा। इस नियम के विरुद्ध बरतने का मनुष्य जितना अधिक प्रयत्न करता है, उतना ही अधिक वह दु:खी होता है। हममें देने की हिम्मत नहीं है, प्रकृति की यह उदात्त माँग पूरी करने के लिए हम तैयार नहीं हैं, और यही है हमारे दु:ख का कारण।

सूर्य समुद्र से पानी लेता है, इसलिए कि वह वर्षा करे। तुम भी लेन–देन के यंत्र मात्र हो। तुम इसलिए लेते हो कि तुम दो। बदले में कुछ भी मत माँगो। तुम जितना ही अधिक दोगे, उतना ही अधिक तुम्हें वापस मिलेगा। जितनी ही जल्दी इस कमरे की हवा तुम खाली करोगे, उतनी ही जल्दी यह बाहरी हवा से भर जायेगा। पर यदि तुम सब दरवाजे–खिड़कियाँ और रंध्र बंद कर लो, तो अन्दर की हवा अन्दर रहेगी जरूर, किंतु बाहरी हवा कभी अन्दर नहीं आयेगी, जिससे अन्दर की हवा दूषित, गंदी और विषैली बन जायेगी। नदी अपनेआप को समुद्र

में लगातार खाली किये जा रही है और वह फिर से लगातार भरती आ रही है। समुद्र की ओर गमन बंद मत करो। जिस क्षण तुम ऐसा करते हो, मृत्यु तुम्हें आ दबाती है।

हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जब तक हम अपनेआप को दुर्बल न बनायें, तब तक हमें कुछ नहीं हो सकता। मैंने अभी ही कहा है कि जब तक शरीर रोग के प्रति पूर्वप्रवृत्त न हो, मुझे कोई रोग न होगा। रोग होना केवल कीटाणुओं पर ही अवलम्बित नहीं है, पर शरीर की पूर्वानुकूलता पर भी। हमें वही मिलता है, जिसके हम पात्र हैं। आओ, हम अपना अभिमान छोड दें और यह समझ लें कि हम पर आयी हुई कोई भी आपत्ति ऐसी नहीं है, जिसके हम पात्र न थे। फिजूल चोट कभी नहीं पड़ी; ऐसी कोई बुराई नहीं है, जो मैंने स्वयं अपने हाथों न बुलायी हो। इसका हमें ज्ञान होना चाहिए। तुम आत्मनिरीक्षण कर देखो, तो पाओगे कि ऐसी एक भी चोट तुम्हें नहीं लगी, जो स्वयं तुम्हारी ही की गयी न हो। आधा काम तुमने किया और आधा बाहरी दुनिया ने, और इस तरह तुम्हें चोट लगी। यह विचार हमें गम्भीर बना देगा। और साथ ही, इस विश्लेषण से आशा की आवाज़ आयेगी, 'बाह्य जगत् पर मेरा नियंत्रण भले न हो, पर जो मेरे अन्दर है, जो मेरे अधिक निकट है, वह मेरा अन्तर्जगत मेरे अधिकार में है। यदि चोट लगने के लिए इन दोनों का इकट्ठे होना जरूरी हो, तो मेरे अधिकार में जो दुनिया है, उसे मैं न छोडूँगा, फिर देखूँगा कि मुझे चोट कैसे लगती है? यदि मैं स्वयं पर सच्चा प्रभुत्व पा जाऊँ, तो चोट कभी न लग सकेगी।'

हम बचपन से ही सर्वदा अपने से बाहर किसी दूसरी वस्तु पर दोष मढ़ने का प्रयत्न किया करते हैं। हम सदा दूसरों के सुधार में तत्पर रहते हैं, पर अपने सुधार में नहीं। यदि हम दु:खी होते हैं, तो चिल्लाते हैं कि 'यह तो शैतान की दुनिया है।' हम दूसरों को दोष देते हैं और कहते हैं, 'कैसे मोहग्रस्त पागल हैं।' पर यदि हम सचमुच इतने अच्छे हैं, तो हम ऐसी दुनिया में भला रहते कैसे हैं? यदि यह शैतान

की दुनिया है, तो हम भी शैतान ही हैं, नहीं तो हम यहाँ क्यों रहते? 'ओह, संसार के लोग कितने स्वार्थी हैं।' सच है, पर यदि हम उनसे अच्छे हैं, तो फिर हमारा उनसे सम्बन्ध कैसे हुआ? जरा यह सोचो तो।

जिसके हम पात्र हैं, वही हम पाते हैं। जब हम कहते हैं कि दुनिया बुरी है और हम अच्छे, तो यह सरासर झूठ है। ऐसा कभी हो नहीं सकता। यह एक भीषण असत्य है, जो हम अपने से कहते हैं।

अतएव, सीखने का पहला पाठ यह है–निश्चय कर लो कि बाहरी किसी भी वस्तु पर तुम दोष न मढ़ोगे, उसे अभिशाप न दोगे। इसके विपरीत, मनुष्य बनो, उठ खड़े हो और दोष स्वयं अपने ऊपर मढ़ो। तुम अनुभव करोगे कि यह सर्वदा सत्य है। स्वयं अपने को वश में करो।

अपनी चिन्ता हमें स्वयं ही करनी है। इतना तो हम कर ही सकते हैं। हमें कुछ समय तक दूसरों की ओर ध्यान देने का ख़याल छोड़ देना चाहिए। आओ, हम अपने साधनों को पूर्ण बना लें; फिर साध्य अपनी चिन्ता स्वयं कर लेगा। क्योंकि दुनिया तभी पवित्र और अच्छी हो सकती है, जब हम स्वयं पवित्र और अच्छे हों। वह है कार्य और हम हैं उसके कारण। इसलिए आओ, हम अपनेआप को पवित्र बना लें। आओ, हम अपनेआप को पूर्ण बना लें।

(संदर्भ ग्रंथ : विवेकानंद साहित्य नवम खंड: १७५–१८२)

* * *